धर्मनिर्पेक्ष बनाम धार्मिक राज्य

मुशर्रफ़ अली

सात साल की कड़ी मशक्कत के बाद जिसमें दो संविधान सभा बनानी पड़ी, नेपाल में नया संविधान, संविधान सभा के 532 सदस्यों में से 507 के मत पाकर 20 सितम्बर 2015 से लागू हो गया लेकिन राजशाही की समर्थक पार्टी, उससे जुड़े संगठन, स्वंयसेवी संस्थायें और राजा के वफ़ादार लोग संविधान का इस बात को लेकर विरोध कर रहे हैं कि वहां की संविधान सभा ने नेपाल को बहुसंख्यक हिन्दू आबादी होने के बाद भी **हिन्दू राष्ट्र** के स्थान पर **धर्मनिर्पेक्ष–राज्य** घोषित क्यों किया है ? लेकिन जो नेपाल को हिन्दू राष्ट्र बनाना चाहते हैं या जो इस विरोध का नेतृत्व कर रहे हैं वह नेपाली जनता को यह नही बता रहे हैं कि नेपाल को हिन्दू राष्ट्र होने पर क्या–क्या लाभ प्राप्त होंगे और धर्मनिर्पेक्ष बन जाने पर नुक्सान क्या होगा? पहले राजा के ज़माने में नेपाल जब हिन्दू राष्ट्र था तब नेपाली जनता को अमुक सुविधायें प्राप्त थी और उनका जीवन स्तर धर्मनिर्पेक्ष भारत से कितना बेहतर था? आजकल साधारण सा सेल्समैन भी जब किसी कम्पनी का उत्पाद बेचता है तो वह ग्राहक को उसके लाभ और हानियों से अवगत कराता है लेकिन हिन्दू राष्ट्र के पक्षधर चाहे वह नेपाल में हों या भारत में न तो लिखित और न ही मौखिकरुप में यह बता रहे हैं कि धार्मिक राज्य बन जाने से यह लाभ और नही बन पाने पर यह हानि होगी।

धर्मनिर्पेक्ष शब्द के विरोधी और धार्मिक राज्य के पक्षधर जो काम अबतक नही कर पाये हैं वह काम हमें करना होगा और इसीलिए अपने इस लेख में हम चर्चा को इस बात पर केन्द्रित करेंगे कि धर्मनिर्पेक्ष तथा धार्मिक राज्यों में से कौन सा राज्य समाज के लिए लाभदायक है और कौन सा हानिकारक। कौन सा देश को विकास की अगली मंज़िल की ओर ले जाता है और कौन सा पीछे की ओर ओर ढकेल देता है। इस बात का जवाब हम भावनात्मक रुप से न देकर तार्किक ढंग से देने की कोशिश करेंगे। तार्किकता का मतलब कुतर्क अथवा अपने विचार के प्रति हठधर्मी होना नही है क्योंकि जो बात अनुभव पर आधारित हो, व्यवहार की कसौटी पर खरी उतरे और तर्कसंगत लगती हो वही सर्वमान्य होती है। मानव इतिहास दोनो तरह की राज्य पद्धतियों के अनुभव से भरा पड़ा है हालांकि विश्व में धार्मिक राज्य वर्तमान में बहुत कम बचे हैं जबकि धर्मनिर्पेक्ष राज्यों की संख्या काफ़ी मौजूद है लेकिन जो धार्मिक राज्य बचे हैं उनके अनुभव, लोगो के सामने उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये पर्याप्त हैं।

1992 में बाबरी मस्जिद टूटने के बाद भारत में धर्मनिर्पेक्षता पर ज्वलंत बहस खड़ी हो गयी और इसी क्रम में 17 अगस्त 1993 को एक सम्मेलन में प्रसिद्ध ईसाई धर्मविज्ञानी डा0 एम.एम थामस द्वारा **रिलीजियस फण्डामेन्टलिज़्म एण्ड इन्डियन सेक्युलरिज़्म द प्रज़ेन्ट क्राइसेस** विषय पर पर्चा पढ़ा गया जिसमें उन्होने कहा, ''स्वतंत्रता आन्दोलन में दो तरह की विचारधारायें काम करती रही है, एक राष्ट्रवाद या साफ़ तौर पर कहा जाये तो साम्प्रदायिक–राष्ट्रवाद की और दूसरी धर्मनिर्पेक्ष राष्ट्रवाद की। जवाहर लाल नेहरु, यूरोपियन ज्ञानोदय, उदारलोकतंत्र और मार्क्सवाद की सामाजिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते थे। जब भारत आज़ाद हो रहा था तब धर्मनिर्पेक्षता के प्रति समर्पण–भाव रखने वाले मध्यम वर्ग ने ही संविधान रचा और उसने उसमें अपने धर्मनिर्पेक्ष–राष्ट्रवाद के विचार को रखा क्योंकि वह इस बात से पूरी तरह सहमत था कि अगर भारत में स्वतंत्रता–समानता व बंधुत्व के मूल्यों को व्यवहार में उतारना है और मिली–जुली संस्कृति के देश को एकजुट रखना है तो इसका आधार धर्मनिर्पेक्षता ही हो सकती है।''

लेकिन 1976 में धर्मनिर्पेक्षता शब्द को संविधान में डलवाने वाली कांग्रेस, 80 के दशक के अन्त तक आते–आते इतनी दिग्भ्रमित हो चुकी थी कि उसने बार–बार साम्प्रदायिकता से समझौता किया। जब 2014 के लोकसभा चुनाव के परिणाम सामने आये तो इतनी कम सीट पाकर तो वह सकते में आ गई और उसने अपने वरिष्ठ नेता श्री ए.के. एन्थनी के नेतृत्व में इसकी जांच करायी। जांच में श्री एन्थनी ने हार का कारण कांग्रेस का अल्पसंख्यकों के प्रति **अति–लगाव** माना। संघपरिवार इस अति–लगाव को **मुस्लिम–तुष्टिकरण** कहता है। श्री एन्थनी ने कहा–अल्पसंख्यकों के प्रति अति–लगाव के कारण (बहुसंख्यक) लोगों में हमारे **सेक्युलरिज़्म** के प्रति संदेह पैदा हुआ। कांग्रेस ने इसपर कहा कि वह उनके नज़रिये पर गम्भीरता से विचार

कर रही है और इसे पार्टी की आन्तरिक बहस का मुद्दा बनायेगी। उनके इस नज़रिये पर कांग्रेस में मौजूद दूसरे अल्पसंख्यक नेता शकील अहमद, सलमान खुर्शीद व गुलामनबी आज़ाद ने अपनी सहमति जताते हुये कहा कि कांग्रेस को अपनी बन गयी ऐसी छवि को सुधारना चाहिये लेकिन सुनील शास्त्री ने इसको गलत बताया। उन्होने कहा कि 2009 के लोकसभा चुनाव में 28 मुस्लिम प्रत्यशियों में से 12 चुने गये लेकिन कांगेस ने केन्द्रीय मंत्रीमंडल में केवल एक को राज्यमंत्री बनाया। इससे पहले जो चार मुस्लिम मुख्यमंत्री, अन्तुले, गफूर, बरकतुल्लाह और तेमूर बनाये गये थे वह इन्द्रा गांधी ने बनाये थे। उसके बाद से बीते 30 सालों में एक भी मुस्लिम को कांगेस ने मुख्यमंत्री नही बनाया इसलिये कांगेस पर मुस्लिम तुष्टिकरण का आरोप बेबुनियाद है।

सेक्युलरिज़्म को समझने में नाकाम अथवा राजनीतिक अवसरवाद का शिकार कांग्रेसी इस बार भी राजीव गांधी द्वारा की गयी उसी ग़लती को दोहरा रहे हैं जो मन्दिर के दरवाज़े खुलवाकर और शाहबानों केस में सुप्रिमकोर्ट के फैसले को निरस्त्र करके उन्होने की थी। उस समय राजनीति में नौसिखिये राजीव गांधी के सलाहकार अरुण नेहरु जैसे लोग थे जिन्होंने उन्हें यह समझाया था कि मन्दिर के दरवाज़े खोलने से हिन्दू और शाहबानो के पक्ष में आये फैसले को संसद द्वारा निरस्त्र करने से यथास्थितिवादी मुस्लिम खुश हो जायेंगे और इस तरह आने वाले चुनाव में कांग्रेस पर दोनों सम्प्रदाय की ओर से वोटों की बारिश होने लगेगी। लेकिन हुआ उल्टा क्योंकि सेक्युलरिज़्म को छोड़ने के ही कारण कांग्रेस को तब सत्ता से वंचित होना पड़ा था। आजकल भी लगता है राहुल गांधी के सलाहकार ऐसे ही लोग बने हुये हैं जैसे राजीव गांधी के थे इसीलिए वह उन्हें ऐसी सलाह दे रहे हैं कि कांग्रेस अगर ऐसे काम करेगी जिससे हिन्दुओं में यह संदेश चला जाये कि वह भी भाजपा की तरह ही धर्मनिर्पेक्ष है तो सम्भवतः आगामी चुनावों में उसकी पुरानी स्थिति बहाल हो जाये। इसी सलाह के अनुपालन में राहुल गांधी अपने गुप्त प्रवास से दो महीने बाद लौटने पर सबसे पहले केदारनाथ गुफ़ा के दर्शन करने जाते हैं फिर वृन्दावन में बांके बिहारी मन्दिर में माथा टेकते हैं और राधा अष्टमी में शामिल होते हैं। वह उत्तर प्रदेश कांगेस कमेटी द्वारा आयोजित पार्टी शिविर में कार्यकर्ताओं को सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि वह बदल गये हैं। उन्ही की उपस्थिति में कांग्रेस संसदीय समिति के नेता प्रदीप माथुर कहते है कि आपके मन्दिर जाने से हवा बदल गई है वह आपके व कांग्रेस के पक्ष में बह रही है। इससे पूर्व भी फ़रवरी 2014 में वह लखनऊ में देवा शरीफ़ की ज़्यारत को गये थे और वाराणसी में काशी विश्वनाथ मन्दिर में मत्था टेकने के बाद गंगा आरती में शामिल हुये थे। इसके विपरीत आज़ादी के बाद जब राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद ने सोमनाथ मन्दिर के जीर्णोद्धार का प्रस्ताव सरकार के सामने रखा तब तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरु ने स्पष्ट रुप से उन्हें ऐसा करने से मना कर दिया था। दक्षिणपंथी के.एम. मुन्शी तथा अन्य लोगों के निजी प्रयास से जब उसका जीर्णोद्धार हो गया तो श्री राजेन्द्र प्रसाद ने उसका उद्घाटन करने का फैसला किया लेकिन नेहरु ने इस बार भी उन्हें ऐसा करने से रोकने की कोशिश की लेकिन उन्होने इसे निजी मामला बताकर उद्घाटन में भाग लिया।

कांग्रेस के पिछले अनुभव ने बता दिया है कि जब–जब उसने नेहरु वाली धर्मनिर्पेक्षता को छोड़ा जनता ने उसे छोड़ दिया। मन्दिर के दरवाज़े खुलवाने और कट्टरपंथियों को खुश करने के लिये शाहबानों के खिलाफ़ जाकर उसे शर्मनाक हार का सामना करना पड़ा। यही हार नरसिंहाराव के दौर की कांग्रेस को बाबरी मस्जिद की रक्षा न करने पर उठानी पड़ी। धर्मनिर्पेक्षता के विषय में भारत में एक दूसरी धारा, लोहिया–जयप्रकाश नारायण और उनके अनुयायिओं की है। गांधी जी की हत्या के बाद लोहिया जी ने अल्पसंख्यको के प्रति सहनशील होने के लिए व्यक्ति में तीन विशेषतायें बतायी थीं। पहली वह जातिवाद का विरोधी हो। दूसरा निजी सम्पत्ति की समाप्ती पर विश्वास रखता हो और तीसरा महिला समानता का हिमायती हो। लेकिन 1952 के चुनाव में समाजवादियों की हुई अप्रत्याशित हार ने लोहिया–जयप्रकाश नारायण को हताशा से भर दिया। जहाँ जयप्रकाश नारायण ने राजनीति से पलायन का रास्ता अपनाया और वह विनोबा भावे के साथ सर्वोदय में चले गये वहीं लोहिया निराशा का शिकार होकर नेहरु परिवार के व्यक्तिगत विरोधी हो गये और कांग्रेस को हराने के लिए वह उनसे भी हाथ मिलाने को तैयार हो गये जो धर्मनिर्पेक्षता के विरोधी और धार्मिक–राष्ट्र के पक्षधर थे। वह नेहरु परिवार के खिलाफ़ उस मोर्चे से जा मिले जो नेहरु की आर्थिक, विदेश व धर्मनिर्पेक्ष नीति के विरोधी थे। उन्होनें नेहरु के खिलाफ़ अपने व्यक्तिगत विरोध को अपने द्वारा गढ़े गये एक ऐसे **वाद** यानि **गैर–कांग्रेसवाद** का जामा पहनाने की कोशिश की जिसका कोई

वैचारिक आधार नही था। जाहिर है इससे अलग–थलग पड़ी साम्प्रदायिक ताकते मज़बूत और धर्मनिर्पेक्ष ताकतें कमज़ोर हुयी। लोहिया ने धार्मिक राष्ट्र चाहने वाली ताकतों के साथ लोकसभा व विधानसभा चुनाव में राजनीतिक गठबंधन बनाया और कई प्रदेशों में उनके साथ मिलकर सरकार बनायी। लोहिया की इस लहर में सी.पी.आई भी बह गयी और उसने भी कई प्रदेशों में धर्मनिर्पेक्षता विरोधियों के साथ मिलकर सरकार बनायी। बाद मे लोहिया की विरासत को उनके अनुयायियों ने आगे बढ़ाया और यह धार्मिक–राष्ट्र के पक्षधरों के साथ राजनीतिक गठबंधन क़ायम करके उनकी ताकत बढ़ाते रहे। जार्ज फ़र्नान्डिज़ इस तरह के उनके अनुयायियों में एक प्रमुख नाम है। इसी धारा का प्रतिनिधित्व करने वाले श्री योगेन्द्र यादव के विचार हम दैनिक हिन्दुस्तान में 17 सितम्बर 2015 को छपे उनके लेख **थकी–हारी घबराई सेक्युलर राजनीति** में पढ़ सकते हैं। जिस तरह ए.के.एन्थनी ने यह मान लिया है कि अल्पसंख्यकों के प्रति अति–लगाव(जो भौतिक–परिणाम के रुप में कहीं नज़र नही आता और जिसे सच्चर कमेटी ने प्रमाणित भी कर दिया है।) ने कांग्रेस को इतनी बुरी तरह हराया है बिल्कुल उसी तरह की बात योगेन्द्र यादव ने अपने उक्त लेख में व्यक्त की है। यह लोहिया जी ही थे जिन्होंने इस थकी–हारी घबराई सेक्युलर राजनीति करने वाली कांग्रेस को ठिकाने लगाने के लिए गैर–कांग्रेसवाद को हल के रुप में पेश करके धार्मिक राज्य बनाने की चाह रखने वालों को देश में स्वीकारिता दिलवायी और गांधीजी की हत्या के बाद जो देश में अछूत बना दिये गये थे उनकी फिर से राजनीति की मुख्यधारा में वापसी हुयी। उन्होंने ही रामायण मेले लगाकर, रामजन्म भूमि आन्दोलन के लिए वह आधार तैयार किया जो बाद को धार्मिक राष्ट्र चाहने वालों के काम आया। वह ए.के.एन्थनी की तरह ही अपने उस लेख में कहने लगे कि **बहुसंख्यक समाज के मन को जोड़ने में नाकाम सेक्युलर राजनीति अल्पसंख्यको की जोड़ तोड़ में लग गयी। व्यवहार में सेक्युलर राजनीति का मतलब हो गया अल्पसंख्यक समाज, खासतौर पर मुस्लिम समाज के हितों की रक्षा। पहले जायज़ हितो की रक्षा से शुरुआत हुई धीरे–धीरे जायज़–नाजायज़ हर तरह की तरफ़दारी को सेक्युलरवाद कहा जाने लगा।** श्री यादव 2014 के चुनाव में नरेन्द मोदी की जीत को विश्व–पूंजीवाद की कोशिशों की जीत न मानकर इसे तथाकथित मुस्लिम तुष्टिकरण की प्रतिक्रिया मानते हैं। जैसाकि उनके पूर्व नेता अरविंद केजरीवाल ने उन्हें आप पार्टी से निकालने पर उनपर आरोप लगाया था कि वह दिल्ली चुनाव में **आप** को हराना व भाजपा को जिताना चाहते हैं बिलकुल ऐसी ही इच्छा वह अपने लेख में यूं जताते हैं **यह भी सम्भव है कि सेक्युलरवाद के नाम पर भानुमति का कुनबा जोड़ने की यह कवायद बिहार की जनता नामंजूर कर दे।** वह बिहार के चुनाव पर अपनी आन्तरिक इच्छा को कुछ इस तरह पेश करते हैं **चुनाव का परिणाम जो भी हो लेकिन इस चुनाव में बिहार हारेगा, सेक्युलर राजनीति हारेगी।**

तो इस तरह भारत में सेक्युलरवाद के बारे में दो राजनीतिक धारायें किस तरह से स्वंय पर शक कर रही हैं और अपनी हार के मूल कारण **नवउदारवादी आर्थिक नीतियों** पर चर्चा करने के स्थान पर उसे अल्पसंख्यको के तुष्टिकरण, उनके प्रति अति–लगाव को मान रही हैं। वह यह नही मान रही है कि जिन आर्थिक नीतियों को मनमोहन–मौन्टेक–चिदम्बरम ने लागू किया और जिसके खिलाफ़ जनता ने 2014 में अपना मत दिया उसी को अब मोदी सरकार और भी तेज़ी से लागू कर रही है। 2014 **के** चुनाव परिणाम का कारण सेक्युलरिज़्म या अल्पसंख्यकों से अतिलगाव नहीं बल्कि मनमोहन सरकार की आर्थिक नीतियां हैं। धर्मनिर्पेक्षता के बारे में एक भ्रम खड़ा कर दिया गया है जिसको दूर करना ज़रुरी है।

धर्मनिर्पेक्षता को जब हम परिभाषित करते हैं तो इसके बारे में प्रसिद्ध शिक्षाविद् श्री आबिद हुसैन ने अपनी किताब **'भारत की राष्ट्रीय संस्कृतिए** में लिखा,'' धर्मनिर्पेक्षता एक ऐसा सिद्धांत है जिसमें मनुष्य अपने रोज़–मर्रा के जीवन में **धार्मिक नियमों तथा शिक्षाओं से आज़ाद रहता है या राज्य, आस्था के मामले में तटस्थ नीति अपनाता है।** इस बारे में विद्वानों का मानना है धर्मनिर्पेक्षता, समाज के सभ्य होने की निशानी है। कोई समाज सभ्यता के किस चरण में पहुंच गया है उसको नापने का पैमाना उसमें पायी जाने वाली धर्मनिर्पेक्षता की मात्रा है। जो समाज जितना धर्मनिर्पेक्ष होगा वह उतना ही अधिक सभ्य होगा। धर्मनिर्पेक्षता का मतलव केवल धर्म का राजनीति से अलग होना नही है बल्कि मनुष्य का कमज़ोर के प्रति क्या व्यवहार है यह भी उसी से तय होगा कि वह समाज कितना सभ्य है। मान लिया किसी समाज ने धर्म को राजनीति से अलग कर लिया लेकिन कमज़ोर के प्रति उसका व्यवहार अन्यायपूर्ण बना रहा तो वह समाज न तो धर्मनिर्पेक्ष समाज कहलायेगा और न ही सभ्य। मनुष्य का अपने से कमज़ोर के प्रति केवल मनुष्य ही नही

पशुओं के भी प्रति क्या व्यवहार है यह उसके सभ्यता के लक्षण को दिखाता है। अपने से कमज़ोर का मतलब, जिनका संख्याबल कम है। वह चाहे धार्मिक, जातीय, भाषायी या क्षेत्रीय अल्पसंख्यक हों उनके प्रति हमारा व्यवहार सौहाद्रपूर्ण, सहानुभूतिपूर्ण और बराबरी का होना चाहिये और उनको कुछ विशेष अधिकार भी मिलने चाहिये। मिसाल के तौर पर उत्तर भारत की किसी बस्ती या कालौनी में अगर दो–तीन परिवार बंगालियों के रह रहे हैं तो वह उस क्षेत्र के क्षेत्रीय व भाषायी अल्पसंख्यक कहलायेंगे। अब उनका त्यौहार दुर्गा पूजा आ गया तब सब लोगों को उनके इस त्यौहार में सहयोग करना चाहिये। उनको यह विश्वास होना चाहिये कि जब वह दुर्गा पूजा के लिए चन्दा इकट्ठा करेगें तो वह केवल उन दो–तीन परिवारों तक सीमित नही होगा बल्कि उसमें कालोनी के सभी लोगों का सहयोग मिलेगा। ऐसे में अगर गैर–बंगाली लोग उनसे यह कहने लगे कि हमारे यहाँ तो ऐसी दुर्गा पूजा होती नही है जैसी बंगाल में होती है और तुम हमसे चन्दा क्यों मांग रहे हो या तुम मछली खाते हो, बंगाली बोलते हो, हमारी कालोनी में न तो मछली खाई जाती है और न ही बंगाली बोली जाती है। अगर यहाँ रहना है तो तुम्हे मछली छोड़नी होगी और हिन्दी बोलनी होगी तो यह हमारे असभ्य होने का लक्षण होगा। अगर कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम अल्पसंख्यको का है और उसमें हमारा योगदान और साझेदारी है तो यह हमारे सभ्य होने का लक्षण होगा। धर्मनिर्पेक्षता किसी एक धर्म तक सीमित नही है बल्कि यह वह सिद्धांत है जो अलग–अलग परिस्थितियों पर लागू होता है। भारत के किसी प्रदेश में मुस्लिम अल्पसंख्यक हो सकते हैं लेकिन उस प्रदेश में अनेक ज़िले ऐसे हो सकते है जहाँ वह बहुसंख्यक और हिन्दू अल्पसंख्यक होंगे। तब यह मुस्लिमों का कर्तव्य बनता है कि वह हिन्दुओं के साथ प्रेम व सौहाद्रपूर्ण और बराबरी का व्यवहार करें। उनके तीज–त्यौहारों में उतने ही उत्साह से शामिल हो, आर्थिक दृष्टि से वैसा ही सहयोग करे जैसा वह अपने त्यौहारों पर करते हैं। इससे यह पता चलेगा कि यह कितना सभ्य समाज है। ऐसा ही व्यवहार कालोनियों, गांव और मौहल्लों में रह रहे सभी तरह के अल्पसंख्यकों के बारे में होना चाहिये।

सभ्यता की परिभाषा और उसके चरण क्या है? इसपर अगर हम विचार करें तो पायेंगे कि सभ्यता से पूर्व की स्थिति थी **आई लिव फॉर माईसेल्फ़** अर्थात मैं केवल अपने लिए जियूंगा। फिर पहला चरण आया, **लिव एण्ड लेट लिव** यानि जियो और जीने दो। इसके बाद तीसरा चरण आया **लिव फ़ॉर अदर्स** अर्थात दूसरों के लिए जियो। यह सभ्यता की चरम स्थिति हुई।

धार्मिक राज्य के पक्षधर, समाज को सभ्यता के पहले चरण से पूर्व की स्थिति में ले जाना चाहते हैं। क्योंकि मुक्त–बाज़ार का सिद्धांत भी समाज को सभ्यता से पूर्व की स्थिति में ले जाना चाहता है इसलिए धार्मिक राज्य के पक्षधरों के साथ उनका आसानी से ताल–मेल हो जाता है और नवउदारवाद को वह अपनी आर्थिक नीति के रुप में चुन लेते हैं।

9 अगस्त 1942 को गांधी जी ने धर्मनिर्पेक्षता के बारे में कहा था कि हिन्दुस्तान उन सब लोगों का है, जो यहाँ पैदा हुये और बढ़े और जो किसी और देश की तरफ़ नहीं देखते हैं। अतः इसपर पारसियों, भारतीय यहूदियों भारतीय इसाईयों भारतीय मुसलमानों तथा अन्य गैर–हिन्दुओं का उतना ही हक़ है जितना कि हिन्दुओं का। आज़ाद हिन्दुस्तान हिन्दूराज नही होगा यह भारतीय राज्य होगा जो किसी एक धर्म को मानने वाले की बहुसंख्या पर नही, बल्कि धार्मिक भेद–भाव के बिना सारी जनता के प्रतिनिधित्व पर आधारित होगा। (धर्मनिर्पेक्षता और राष्ट्रीय एकता पृ03)

भारत आज और कल में इसी बात पर ज़ोर देते हुए जवाहरलाल नेहरु ने कहा, **भारत उन सबका घर है जो यहाँ रहते हैं चाहे वह किसी भी धर्म के हों.....उनके अधिकार और दायित्व बराबर हैं। हमारा समाज मिला–जुला समाज है और आधुनिक बहुधर्मी समाज में व्यक्तिगत विश्वास तथा व्यक्तिगत आचरण का सम्मान किया जाना चाहिये। धर्मनिर्पेक्षता एक संघीय समाज का सिद्धांत है जो सभी लोगों के कल्याण के लिये है। हम एक धर्मनिर्पेक्ष राज्य का निर्माण करने जा रहे हैं जहाँ प्रत्येक धर्म को पूरी आज़ादी और सम्मान मिलेगा और उसके नागरिकों को समान आज़ादी और तथा समान अवसर मिलेंगे। यह कांग्रेस के कराची अधिवेशन(1931) में पास मूलभूत अधिकारों के प्रस्ताव के अनुरुप है, जिसमें कहा गया है कि राज्य सभी धर्मों के सम्बंध में निष्पक्ष रवैया अपनायेगा।**

संविधान में निर्दोष धर्मनिर्पेक्ष मूल्यों तथा कतिपय भारतीयो के मन में बसी पुरातन–पंथी धार्मिकता में कोई संवाद न होने के कारण राज्य की धर्मनिर्पेक्षता की बातों और उसके व्यवहार में एक खाई बन

गयी है जो निरंतर बढ़ रही है। धर्मनिर्पेक्षता के मामले में सरकार की गलतियां अनेक हैं। स्कूलों में पढ़ायी जाने वाली पूस्तकों में धार्मिक झुकाव स्पष्ट है। यद्यपि सभी धर्मों को समान महत्व देने की कोशिश की जाती है जो प्रायः असफल होती है। अधिकांश राजकीय समारोह हिन्दू धार्मिक क्रियाओं से शुरु होते हैं। धार्मिक पूजास्थलों में राजनेताओं के दौरों का खूब प्रचार किया जाता है। सरकारी रेडियो दूरदर्शन से लोगों के धार्मिक पोषण के लिये कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाते हैं और यह प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। वही पृ0 21–22

जस्टिस वी.एम. तारकुण्डे ने लिखा–आमतौर पर माना जाता है कि राष्ट्रवाद साम्प्रदायिकता को खत्म करने वाला होता है और साम्प्रदायिकता से लड़ने के लिए राष्ट्रवाद को बढ़ावा दिया जाना चाहिये। इस धारणा के कारण ही साम्प्रदायिकता के उपचार के लिए राष्ट्रवाद को बढ़ावा दिया जाता है किन्तु यह धारणा बिल्कुल निराधार है। सम्प्रदायवाद की तरह राष्ट्रवाद भी एक समूहवाद है। समूह में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का समूह के साथ तारतम्य करके उसे उसमे विलीन कर देता है और तब वह अन्य समूहों के प्रति उग्र रुख़ अपनाने लगता है। जैसाकि वर्षों पहले डा0 एरिक फ्रॉम ने कहा था सभी समूहों की विशेषता है–बाहर से विनम्र अन्दर से आक्रमक। भले ही यह समूह धर्म राष्ट्र **जाति वर्ग किसी पर भी आधारित हों। साम्प्रदायिकता का हल राष्ट्रवाद है इस धारणा की विसंगति को इस बात से देखा जा सकता है कि अधिकांश साम्प्रदायिक लोग, उत्साही राष्ट्रवादी भी हैं। चूंकि हिन्दुओं का देश में स्पष्ट बहुमत है, उनकी साम्प्रदायिकता का राष्ट्रवाद से कोई संघर्ष नही है। यही कारण है कि अधिकांश उग्र राष्ट्रवादी, राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ और शिवसेना जैसे संगठनों में पाये जाते हैं। वही पृ0 23–24**

ध्यान देने योग्य बात यह है कि धर्मनिर्पेक्षता और लोकतंत्र के सांस्कृतिक मूल्य एक ही है। स्वतंत्रता, समता और भाईचारा लोकतंत्र के सर्वमान्य मूल्य हैं। स्वतंत्रता को वही समझ सकता है जिसका मन स्वतंत्र हो। ऐसे आदमी को अपनी बुद्धि पर भरोसा होता है और वह अंधविश्वास तथा धार्मिक कट्टरता से मुक्त होता है। समता और भाईचारे के मूल्यों को आदमी तभी अपना सकता है जब उसकी नैतिक दृष्टि जाति, धर्म और सम्प्रदाय से मुक्त हो। केवल धर्मनिर्पेक्ष व्यक्ति ही सही मायनों में लोकतांत्रिक हो सकता है।

भारत से धर्मनिर्पेक्षता को हटाकर जब धार्मिक राज्य बनाया जायेगा तो सबसे पहला सवाल यह सामने आयेगा कि राज्य का धर्म कौनसा होगा। आर.एस.एस. का जवाब होगा हिन्दू धर्म राज्य का धर्म होगा लेकिन तभी फिर सवाल पैदा होगा कि हिन्दू धर्म क्या समरुपता लिए कोई एकांगी धर्म है तो जवाब होगा कि नही तब सनातन धर्म राज्य का धर्म होगा या आर्यसमाजी? अगर वैष्णव धर्म को राज्य का धर्म घोषित किया जायेगा तो शैव कहां जायेंगे और आदिवासियों का धर्म, राज्य का धर्म क्यों नही होगा ? एक बार स्व0 सुषमा स्वराज ने अपने स्वप्न के आधार पर प्रस्ताव रखा था कि गीता को राष्ट्रीय पूस्तक घोषित किया जाये ऐसे मे दूसरा हिन्दू कह सकता है कि ऋगवेद, भारत का सबसे पुराना ग्रंथ है उसे क्यों नही राष्ट्रीय पूस्तक घोषित किया जाये। आर्यसमाजी, सत्यार्थप्रकाश को, बाल्मीकी को भगवान मानने वाले रामायण को, बौद्ध, त्रिपिटक को सिख, गुरुग्रंथ साहब को, शैव, शिवपुराण को राष्ट्रीय पूस्तक घोषित करने का प्रस्ताव रख सकते हैं। अगर किसी की भी धर्म या पूस्तक को राज्य का धर्म या पूस्तक घोषित नही की गयी तो फिर इसी बात पर भारत में आपस में झगड़ा शुरु हो जायेगा तो क्या धर्मनिर्पेक्षता को समाप्त करके उसके स्थान पर धार्मिक राज्य बनाने की इच्छा रखने वाले लोग, भारतवासियों को आपस में लड़ाना चाहते हैं ? भारत के इतिहास का आप अध्ययन करेंगे तो पायेंगे कि मुगलों के आने से पहले तक एक भी ऐसा काल नही रहा है जब यहाँ एक ही विश्वास, आस्था और सांस्कृतिक एकरुपता का समाज पाया जाता हो। विभिन्न धर्मो, आस्थाओं, विश्वास और संस्कृतियों का समन्वय ही हमारी सुन्दरता और ताकत रही है। जो लोग इसको समरस व एकरुप करने की कोशिशों में लगे हैं वह भारतीय संस्कृति की मौलिकता को नष्ट करना चाहते हैं।

धर्मनिर्पेक्षता किसी समाज पर क्या प्रभाव डालती है और उसे विकास की किन ऊँचाईयो तक लेजाती है इसे समझना है तो हमें यूरोप के इतिहास का अध्ययन करना होगा। जब तक वहाँ धर्म और राजनीति का गठबन्धन कायम रहा वह समाज पिछड़ा बना रहा क्योंकि धर्म हर नये विचार का विरोध करता रहा और राजनीति उसके इस काम में सहायक बनी रही। ब्रूनों को जब अपने नये विचारों के लिए धार्मिक कट्टरपंथियों ने ज़िन्दा जलाया तब राज्य उनके इस काम में मूक दर्शक बना रहा। जब गैलेलियो ने कहा कि दुनिया चपटी नही गोल है और वह सूरज के चारों ओर परिक्रमा कर रही है तो चर्च ने उसपर मुकदमा चलाया

और उसे अपनी बात का खण्डन करने पर मजबूर किया। उनकी धर्म–पूस्तक में दुनिया चपटी थी और सूरज उसकी परिक्रमा कर रहा था। तब राज्य और धर्म के इस गठबंधन को समाज के विकास की सबसे बड़ी बाधा मानते हुये वहाँ के विद्वानों ने इसके खिलाफ़ बगावत शुरु कर दी। जर्मन पादरी और धर्मविज्ञानी मार्टिन लूथर ने 31 अक्टूबर 1517 को जर्मन में विट्टनबर्ग स्थित ''आल सेन्टस चर्च'' के दरवाज़े पर 95 सवाल चस्पा करके विरोध की पहल की। इसाई यूरोप को धर्मनिर्पेक्ष समाज में बदलने के लिए वहाँ के लोगों ने भारी कुर्बानियां दीं। प्रोटेस्टेन्टो और रोमन कैथोलिकों के बीच सन् 1518 से 1548 तक तीस वर्ष लम्बा युद्ध चला और इसमें 80 लाख लोगों ने प्राण गंवाये। लेकिन यूरोपवासियों का यह बलिदान व्यर्थ नही गया। इसने 'ज्ञानोदय' को जन्म दिया और धर्म को राजनीति से अलग करके उसे केवल चर्च तक सीमित कर दिया। इस एक घटना ने यूरोप को प्रश्नाकुल समाज में बदल दिया। अब लोगों ने पुराने सभी विचारों, परम्पराओं, ग्रन्थों और महान से महान व्यक्तियों दार्शनिको विचारकों की स्थापनाओं पर सवाल खड़े करने शुरु कर दिये। जैसे ही धर्म का राजनीति से अलगाव हुआ और राज्य धर्मगुरुओं के चंगुल से आज़ाद हुआ वैसे ही नये विचारों को फलने फूलने का मौका मिल गया इसके नतीजे में वहाँ नये अविष्कारों का तांता लग गया। यूरोप की औद्योगिक क्राँति इस संघर्ष का वह इनाम था जिसने यूरोपवासियों को विकास की दौड़ में दुनिया में सबसे आगे कर दिया। यहाँ सबसे बड़ा सवाल यह पैदा हुआ कि ईसाई यूरोप ने जहाँ दूसरा धर्म था ही नही क्यों खुद को धर्मनिर्पेक्ष बनाने के लिए इतना लम्बा संघर्ष छेड़ा और इतनी कुर्बानी की। उनके लिए तो पहले से बने धार्मिक राज्य को जारी रखना सबसे आसान काम था। लेकिन उन्होने धार्मिक राज्य से पीछा छुड़ा लिया। इसके नतीजे में उन्हें जो हासिल हुआ उसे उनके विकास के तौर पर देखा जा सकता है।

जिन देशों ने धर्मनिर्पेक्षता को नही अपनाया है वह या तो पिछड़े बने हुये हैं या वहाँ अल्पसंख्यकों के प्रति भेदभावपूर्ण व्यवहार होने के कारण लड़ाई चल रही है। इज़राईल जो धर्मनिर्पेक्ष नही है वहाँ अल्पसंख्यक फ़िलिस्तीनी अरबों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार होने के कारण लड़ाई चल रही है। पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, ईरान अफ़ग़ानिस्तान का उदाहरण आपके सामने है। सऊदी अरब, और खाड़ी के देशों में जो सम्पन्नता नज़र आ रही है वह केवल तेल के कारण है। तेल उनके लिए वरदान साबित हो सकता था अगर उसका इस्तेमाल ज्ञान फैलाने में किया जाता लेकिन तेल तो अरब सामन्तों के हाथों में आने से उनकी अपनी कौम के लिए ही मुसीबत बन गया क्योंकि वह उसका इस्तेमाल दुनिया भर में अज्ञान फैलाने व पिछड़ापन बनाये रखने में कर रहे हैं ताकि उनकी तानाशाही क़ायम रह सके। भारत में भी जो विकास नज़र आ रहा है वह उसके संविधान के धर्मनिर्पेक्ष होने का नतीजा है। अगर हमने धर्मनिर्पेक्षता को छोड़ दिया या उसकी रक्षा नही की तो भारत को पाकिस्तान बनने में देर नही लगेगी। इस खतरे को भांपकर ही धर्मनिर्पेक्षता के महत्व को समझने वालों ने अपने पुरुस्कार लौटाने का आन्दोलन शुरु किया है। नरेन्द्र दाभोल्कर, गोविन्द पन्सारे, डा0 एम.एम कल्बुरगी, भारत के ज्यारदानों ब्रूनों ही तो हैं जिन्हें 16 वीं शताब्दी में अपने नये विचारों के कारण जिन्दा जला दिया गया था। मध्य एशिया के खगोल शास्त्री और तेमूर के पोते मिर्जा उलूगबेग का कहना था कि साम्राज्य बिखर जाते हैं, धर्म लुप्त हो जाते हैं लेकिन वैज्ञानिकों द्वारा किये गये कार्य अमर रहते हैं। उनका मानना था कि नियमित रूप से आकाशीय ग्रहों और तारों पर नज़र रखने से कोई भी व्यक्ति इन खगोलीय पिण्डों की गति को ठीक–ठीक जान सकता है और इस आधार पर वह चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण व सेक्युलर कलेन्डर का निर्माण करके प्राकृति नियमो को विकसित करने संबंधी जानकारियां दे सकता है। लेकिन मिर्जा उलुगबेग के इन नये विचारों ने उस ज़माने के मुल्लाओं की सत्ता को हिला दिया और उन्होंने उनके बेटे को बहका कर उससे उनकी हत्या करा दी। आस्था हमेशा तर्क पद्धति से दूर भागती है क्योंकि तर्क पद्धति लोगों को ज्ञान के सम्पर्क में लाती है और यह सत्तारुण लोगों को भय के जरिये लोगों को अपने अधीन रखने से रोकती है। किसी भी देश का विकास इसपर निर्भर रहता है कि उस देश में कितने लोग नये विचार के मानने वाले है और रोज़मर्रा में आने वाले सवालों का फैसला तार्किक पद्धति के आधार पर करते है। नेपाल ने तमाम दबावों के बावजूद एक बेहद महत्वपूर्ण काम, राज्य को धर्मनिर्पेक्ष घोषित करके किया। आज जो उनके इस फैसले की आलोचना कर रहे है वह भविष्य में देखेंगे कि वर्ष 2015 में किया गया उनका फैसला कितना सही था। भारत में धर्म और राजनीति के मेल का दुश्परिणाम हम साम्प्रदायिक दंगों के रुप में आज़ादी के बाद से ही देख रहे हैं।